

लोकतंत्र में न्यायपालिका का प्रभाव

विनोद कुमार

vk17273@gmail.com

भूमिका

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है और लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रशासन के तीनों मुख्य स्तम्भों— विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के मध्य नियंत्रण व संतुलन का नियम प्रवर्तित है। बावजूद इसके कई बार देखा गया है कि कार्यपालिका और विधायिका अपने संवैधानिक कर्तव्यों का निर्वाह ठीक से न कर पाती और उनके द्वारा जाने-अनजाने में जनहित की भावनाओं को इस पहुंचती है। ऐसे में न्यायपालिका और विधायिका को उनके दायित्व का भान कराती हुई लोकतांत्रिक मूल्यों की पुर्नस्थापना करती हैं।

वर्तमान भारत में

भारत वर्तमान में कई सामाजिक उथल-पुथल पर क्योंकि विधायिका अहम मुद्दों फैसला लेने से बच रही है। लोकतंत्र को मजबूत बनाने तथा सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा करने का पूरा कार्य न्यायपालिका कर रही है। जहां एक ओर विधायिका अपनी भूमिका ठीक से निर्वहन नहीं कर रही है वहीं दूसरी ओर सामाजिक नैतिकता और न्यायिक नैतिकता के बीच एक विरोधाभास जारी है और यह दोनों प्रवृत्तियां खतरनाक हैं।

केरल के सबरीमाला मंदिर में 10 से 50 वर्ष की उम्र के बीच की महिलाओं के प्रवेश का मुद्दा बहुत पुराना था। 1 सितम्बर 2018 के अन्त में संवैधानिक खंडपीठ ने स्पष्ट रूप से कहा कि मासिक धर्म के दौरान महिलाओं को मंदिर में प्रवेश करने से प्रतिबंधित करना 'अस्पृश्यता' के व्यवहार के समान है, भक्ति में भेदभाव तथा धर्म में पितृसत्ता की प्रधानता पर 'संवैधानिक नैतिकता' को प्राथमिकता दी और महिलाओं को मंदिर में प्रवेश पर प्रतिबंध को खत्म करने का फैसला दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति से अब तक की न्यायिक व्यवस्था का विश्लेषण किया जाए तो इसमें न्याय सुधार नहीं दिखता है। बढ़ती आबादी, सामाजिक और आर्थिक समृद्धि व लोगों के जागरूक होने के कारण पिछले दशकों में देशभर में काफी बड़ी संख्या में मुकदमे दायर किए गए हैं, पर वर्तमान समय में 90 प्रतिशत निचली अदालतों में लंबित पड़े हैं। दिनोंदिन बढ़ती हुई मुकदमों की संख्या के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि वर्ष 2040 तक देश की अदालतों के समक्ष 15 करोड़ मुकदमे होंगे।

प्लेटो के अनुसार— लोकतंत्र को मजबूत बनाने तथा सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा का महत्वपूर्ण काम केवल न्यायपालिका नहीं कर सकती है। जब तक कोई दार्शनिक राजा नहीं बन जाता, तब तक समाज में बुराईयों को खत्म नहीं किया जा सकता है, न ही मानव जाति के लिए ऐसा हो सकता है।

‘विधायिका और न्यायपालिका के फैसलों का प्रभाव’

बोते वर्षों में यह देखा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को समाचारों में प्रमुखता से दिखाया जाता है जिससे सामान्य जनता के बीच संवेदनशील मुद्दों के प्रति एक जागरूकता आती है और जनता लंबित मामलों में न्यायालय के फैसले से बड़ी उम्मीदें रखती है। वहीं दूसरी ओर संसदीय लोकतंत्र के लिए महत्वपूर्ण संसदीय-विधेयक पर कोई बहस नहीं होती है, जो लोकतंत्र के लिए नुकसानदायक है। उदाहरण के लिए इस वर्ष की शुरुआत में सरकार ने विदेशी योगदान विनियम अधिनियम में संशोधन किया था। इस संशोधन द्वारा यह प्रावधान किया था। इस संशोधन द्वारा यह प्रावधान किया गया कि 1976 से लेकर अब तक विदेशी कंपनियों या व्यक्तियों से प्राप्त राजनीतिक चंदे कानूनी रूप से वैध होंगे। इस महत्वपूर्ण संवैधानिक संशोधन का भारतीय लोकतंत्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा इस पर संसद में कोई चर्चा नहीं की गई और न ही सार्वजनिक रूप से जनता के बीच कोई बहस की गई। विधायिका एवं कार्यपालिका द्वारा अपनी भूमिकाओं के ठीक से निर्वहन न करने की वजह से न्यायपालिका कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर सक्रीय भूमिका निभा रही हैं तथा भारत के संसदीय लोकतंत्र के सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में कार्य कर रही है, जो लोकतंत्र के लिए अच्छी स्थिति नहीं है।

संसद का घटता प्रभाव

लोकतंत्र व्यवस्था में संसद जनता का प्रतिनिधित्व करता है तथा भारत में यह विधायिका का सर्वोच्च स्थान है जहां समाज में हाशिए पर रहने वाले समुहों के विकास के लिए फैसले किए जाते हैं। न्यायमूर्ति डी वाई चन्द्रचूड ने ‘आधार’ की वैधता पर फसला सुनाते समय विडम्बनात्मक रूप से ‘संविधान’ के साथ धोखाधड़ी शब्द का उपयोग किया था। सुप्रीम कोर्ट ने कार्यपालिका एवं विधायिका के कार्यों को संदर्भित करने के लिए पहली बार इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया। प्रधानमंत्री नियमित रूप से सभी संसदीय बहस में भाग नहीं लेते हैं जिससे गंभीर मामलों की संवेदनशीलता प्रभावित होती है।

तुलनात्मक रूप से देखें तो पाते हैं कि जहां 1950 के दशक में लोकसभा की बैठक में औसतन 127 दिन होती थी वहीं 217 में लोकसभा में एक साल में 72 बिल पास हुए थे वहीं 15वीं लोकसभा में 2009 से 2014 के बीच मात्र 40 बिल पास हुए हैं। लोकसभा में इस वित्त वर्ष के बजट सत्र में कई राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को बिना किसी चर्चा के ही पारित कर दिया। राफेल लड़ाकू विमान सौदे में विपक्ष द्वारा लगाए गए आरोपों की निष्पक्ष जांच के लिए संयुक्त संसदीय समिति के स्थापना होनी चाहिए थी लेकिन ऐसा नहीं किया जा रहा है।

संसद, उच्चतम लोकतांत्रिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करने के बजाए प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच आपसी विवाद का स्थल बनता जा रहा है। यही कारण है कि चुनौतीपूर्ण सामाजिक बुराईयों से निपटने के लिए कानून बनाने का काम विधायिका को करना चाहिए लेकिन राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव होने के कारण भारतीय दण्ड संहिता की धारा 377 को समाप्त करने में 70 वर्ष लग गए। सर्वोच्च न्यायालय कार्यकारी एवं विधायिका द्वारा छोड़े गए मामलों का निपटान करना लोकतंत्र के हित में नहीं है। समाज को लोकतान्त्रिक रूप से संगठित करने के कार्य को न्यायपालिका एक अचयनित निकाय तथा उच्च अधिकारियों पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए। सामाजिक बुराईयों से निपटने के लिए सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलन को माध्यम बनाया जाना चाहिए न कि न्यायिक प्रक्रियाओं का सहारा लेना चाहिए।

न्यायपालिका की स्थिति

न्यायपालिका सामान्य प्रतिकूल सामाजिक प्रथाओं को संविधान सम्मत रूप से ठीक करने का ही प्रसाय करता है लेकिन अभी भी न्यायपालिका में उदय स्तर पर सामाजिक वर्गों की भागीदारी तथा समान अवसर की कमी है। 1993 में न्यायमूर्ति एस आर पांडेयन के आकलन के अनुसार उच्च न्यायपालिका में दलित तथा जनजाति समुदायों की भागीदारी 4 प्रतिशत से कम थी तथा महिलाओं की भागीदारी 3 प्रतिशत से कम थी। पूर्व राष्ट्रपति के आर नारायणन ने सिफारिश की थी कि समाज के कमजोर वर्ग से आने वाले समुदायों के उम्मीदवारों को सर्वोच्च न्यायालय में न्यायमूर्ति बनाया जाना चाहिए। आजादी के बाद से केवल चार दलित सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति बन पाए हैं, जिनमें से एक भारत के मुख्य न्यायाधीश भी रह चुके हैं। यहां तक की निचली न्यायपालिका में भी स्थिति संतोषजनक नहीं है। 11 राज्यों के आंकड़ों से पता चलता है कि अन्य पिछड़ा वर्ग अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के न्यायाधीशों का प्रतिनिधित्व 12 प्रतिशत से 14 प्रतिशत के बीच था। सुप्रीम कोर्ट में एक महिला न्यायाधीश की नियुक्ति में 42 वर्ष लग गए और अब तक सुप्रीम कोर्ट में केवल 8 महिला न्यायाधीश हैं।

लंबित मामले

विधायिका द्वारा पूरी अक्षमता से अपनी जिम्मेदारी का पालन न करने के कारण ही न्यायपालिका के पास लगभग 3.3 करोड़ मामले लंबित पड़े हुए हैं। इसी प्रकार उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के पास क्रमशः 43 लाख एवं 57987 मामले लंबित पड़े हुए हैं। लाकतंत्र में इससे अन्यायपूर्ण क्या हो सकता है कि हजारों निर्दोष व्यक्तियों को न्याय के इंतजार में विचाराधीन कैदी के रूप में जेलों में रहना पड़ता है। भारत की जेलों में 67 प्रतिशत कैदी सुनवाई का इंतजार कर रहे हैं जिनमें से 55 प्रतिशत कैदी दलित, जनजाति तथा मुस्लिम समुदाय से हैं।

इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि क्या न्यायपालिका का मूल्यवान समय ऐसे जनहित याचिका (चप्स) की सुनवाई पर खर्च होना चाहिए जो मूल रूप से कार्यपालिका का कार्य है। उदाहरण के लिए अश्लील साहित्य पर प्रतिबन्धित लगाने या सिनेमाघरों में राष्ट्रगान को अनिवार्य घोषित करने का कार्य कार्यपालिका को करना चाहिए। जनहित का गठन कमजोर वर्गों को न्याय दिलो के लिए किया गया था। रेलगाड़ियों में शाकाहारी एवं मांसाहारी यात्रियों के लिए अलग सीटों की मांग करने के लिए दायर की गई, जनहित याचिका दर्शाते हैं कि इसका दुरुपयोग किया जा रहा है।

क्षमता से अधिक काम करने वाले न्यायालय/विधायी/कार्यपालिका के कार्यों जैसे सीट बैल्ट/हैलमेट पहनने के नियमों को लागू करने, धार्मिक/नागरिक समाज के प्रश्नों को हल करने, जैसे की हिन्दू धर्म का सार क्या है तथा मस्जिद नमाज के लिए अभिन्न अंग हैं या नहीं और धार्मिक प्रथाएं संवैधानिक मानदण्डों का उल्लंघन करना है या नहीं को निपटाने के लिए एक एकल संस्था नहीं बन सकती है। समाज का एक वर्ग न्यायालय के फैसले से सहमत नहीं होता है। इसलिए समाज में संवेदनशील विषयों पर गंभीर बहस राजनीतिक दल का कर्तव्य है। धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष असमानता का समाधान केवल न्यायिक या कानूनी प्रक्रिया द्वारा नहीं हो सकती है बल्कि इस प्रक्रिया में समाज के सभी वर्गों को शामिल करने की जरूरत है। प्रयाप्त कानून होने के बाद भी राज्य सरकारें लिविंग को नहीं रोक पा रही हैं। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य सरकारों को सितंबर 2018 में राजनीतिक रूप से प्रेरित लिविंग की घटनाओं में शामिल कुछ असामाजिक तत्व किसी समूह में विशेष के प्रति दुर्भावना रखते हैं, जिसे रोकने की जरूरत है।

निष्कर्ष

भारतीय लोकतंत्र की विडंबना है कि बहु-विविध देश में राजनीतिक दल सामाजिक बदलाव लाने का दायित्व पूरा नहीं कर रहे हैं। समाज में सार्थक विचार-विमर्श करने के बजाए सभी महत्वपूर्ण मामलों की न्यायालय की देखरेख में निपटान करना पड़ता है जिसकी वजह से उन फैसलों को लागू करना मुश्किल होता है। उदाहरण के लिए महिला संरक्षण पर प्रभावी कानून है पर समाज में महिलाओं को समान अवसर देने के लिए जरूरी उपाय करने के प्रति संवेदनशीलता की कमी है।

संदर्भ ग्रन्थ

- 1 अरिहन्त पब्लिकेशन (इंडिया) लिमिटेड
- 2 भारत का संविधान और संवैधानिक विधि— सुभाष काश्यप
- 3 कॉनिकल दिसम्बर-2018
- 4 किरन कम्पीटिशन टाइम्स
- 5 अरिहन्त समसामयिकी महासागर— दिसम्बर 2018
- 6 प्रतियोगिता दर्पण नवम्बर 2018
- 7 दैनिक भास्कर
- 8 इंटरनेट।